

# भारतीय दर्शन की एक अप्रतिम कृति अष्टसहस्री

डॉ. दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य,

एम्. ए., पीएच. डी., रीडर का. हिं. वि. वि.

## प्रास्ताविक

आचार्य विद्यानन्द-रचित 'अष्टसहस्री' जैन दर्शन की ही नहीं, समग्र भारतीय दर्शन की एक अपूर्व, अद्वितीय और उच्चकोटि की व्याख्या-कृति है। भारतीय दर्शन-वाङ्मय में जो विशेष उल्लेखनीय उपलब्ध रचनाएँ हैं उनमें यह निःसन्देह बेजोड़ है। विषय, भाषा और शैली तीनों से यह अपनी साहित्यिक गरिमा और स्वस्थ, प्रसन्न तथा गंभीर विचार-धारा को विद्वन्मानस पर अङ्कित करती है। सम्भवतः इसीसे यह अतीत में विद्वद्-प्राह्य और उपास्य रही है तथा आज भी निष्पक्ष मनीषियों द्वारा अभिनन्दनीय एवं प्रशंसनीय है। यहाँ पर हम उसीका कुछ परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

## मूल ग्रन्थ : देवागम

यह जिस महत्त्वपूर्ण मूल ग्रन्थ की व्याख्या है वह विक्रम संवत् की दूसरी-तीसरी शताब्दि के महान् प्रभावक दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित 'देवागम' है। इसी का दूसरा नाम 'आप्तमीमांसा' है। यतः यह 'भक्तामर', 'कल्याणमन्दिर' आदि स्तोत्रों की तरह 'देवागम' पद से आरम्भ होता है, अतः यह 'देवागम' कहा जाता है तथा अकलङ्क,<sup>२</sup> विद्यानन्द,<sup>३</sup> वादिराज,<sup>४</sup> हस्तिमल्ल,<sup>५</sup> आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने इसका इसी नाम से उल्लेख किया है। और 'आप्तमीमांसा' नाम स्वयं समन्तभद्र ने,<sup>६</sup> ग्रन्थान्त में दिया है, इससे यह 'आप्तमीमांसा' नाम से भी विख्यात है।

१. 'देवागम-नभोयान.....'—देवागम, का. १।
२. 'कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः।'—अष्ट श. प्रार. प. २।
३. 'इति देवागमाख्ये स्वोक्त परिच्छेदे शास्त्रे . . . . .'<sup>१</sup>—अष्ट स. पृ., २९४।
४. 'देवागमेन सर्वशो येनाद्यापि प्रदर्श्यते।'—पार्श्वनाथचरित।
५. 'देवागमन सूत्रस्य श्रुत्या सदृशान्वितः।'—विक्रान्तकौरव।
६. 'इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।'—देवा. का. ११४।

विद्यानन्द ने<sup>१</sup> इस नाम का भी अपने ग्रन्थों में उपयोग किया है। इस तरह यह कृति जैन साहित्य में दोनों नामों से विश्रुत है।

इस में आचार्य समन्तभद्र ने आप्त (स्तुत्य) कौन हो सकता है, उसमें आप्तत्व के लिये अनिवार्य गुण (असाधारण विशेषताएँ) क्या होना चाहिए, इसकी युक्ति पुरस्सर मीमांसा (परीक्षा) की है और यह सिद्ध किया है<sup>२</sup> कि पूर्ण निर्दोषता, सर्वज्ञता और युक्तिशास्त्राविरोधि वक्तृता ये तीन गुण आप्तत्व के लिये नितान्त वांछनीय और अनिवार्य हैं। अन्य वैभव शोभा मात्र है। अन्ततः ऐसा आप्तत्व उन्होंने वीर-जिन में उपलब्ध कर उनकी स्तुति की तथा अन्यो (एकान्तवादियों) के उपदेशों एकान्तवादों की समीक्षा पूर्वक उनके उपदेश-स्याद्वाद की संस्थापना की है।<sup>३</sup>

इसे हम जब उस युग के सन्दर्भ में देखते हैं तो प्रतीत होता है कि वह युग ही इस प्रकार का था। इस काल में प्रत्येक सम्प्रदाय प्रवर्तक हमें अन्य देव तथा उसके मत की आलोचना और अपने इष्टदेव तथा उसके उपदेश की सिद्धि करता हुआ मिलता है। बौद्ध दर्शन के पिता कहे जाने वाले आचार्य दिग्नाग ने भी अन्य के इष्टदेव तथा उसके उपदेशों की आलोचना और अपने इष्ट बुद्धदेव तथा उनके उपदेश (क्षणिकवाद) की स्थापना करते हुए 'प्रमाणसमुच्चय' में बुद्ध की स्तुति की है। इसी 'प्रमाणसमुच्चय' के समर्थन में धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' और प्रज्ञाकर ने 'प्रमाणवार्तिकालंकार' नाम की व्याख्याएँ लिखी हैं। आश्चर्य नहीं कि समन्तभद्र ने ऐसी ही स्थिति में प्रस्तुत 'देवागम' की रचना की और उस पर अकलङ्कदेव ने धर्म कीर्ति की तरह 'देवागमभाष्य' (अष्टशती) तथा विद्यानन्द ने प्रज्ञाकर की भाँति 'देवागमालङ्कार' (प्रस्तुत अष्टसहस्री) रचा है। 'देवागम' एक स्तव ही है, जिसे अकलङ्कदेव ने स्पष्ट शब्दों में 'भगवत्स्तव' कहा है।<sup>४</sup> इस प्रकार 'देवागम' कितनी महत्त्व की रचना है, यह सहज में अवगत हो जाता है।

यथार्थ में यह इतना अर्थगर्भ और प्रभावक ग्रन्थ है कि उत्तर काल में इस पर अनेक आचार्यों ने भाष्य-व्याख्या-टिप्पण आदि लिखे हैं। अकलङ्कदेव की 'अष्टशती', विद्यानन्द की 'अष्टसहस्री' और

१. 'अष्ट स., पृ. १, मङ्गल पद्य, आप्तपरीक्षा, पृ. २३३, २६२।

२. दोषावरणयोर्हानिर्निशेषास्त्यति शायनात् ।  
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥  
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।  
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥  
सत्त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक् ।  
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ —देवागम का., ४, ५, ६ ।

३. '.....इति स्याद्वादसंस्थितिः ॥'—देवागम का. ११३।

४. '.....स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ।'—अष्ट श. मंग. प. २।

वसुनन्दि की 'देवागमवृत्ति' इन तीन उपलब्ध टीकाओं के अतिरिक्त कुछ व्याख्याएँ और लिखी गई हैं जो आज अनुपलब्ध हैं—और जिनके संकेत मिलते हैं। देवागम की महिमा को प्रदर्शित करते हुए आचार्य वादिराज ने<sup>२</sup> उसे सर्वज्ञ का प्रदर्शक और हस्तिमल्ल ने<sup>३</sup> सम्यग्दर्शन का समुत्पादक बतलाया है। इसमें दस परिच्छेद हैं,<sup>\*</sup> जो विषय-विभाजन की दृष्टि से स्वयं ग्रन्थकार द्वारा अभिहित हैं। यह स्तोत्ररूप रचना होते हुए भी दार्शनिक कृति है। उस काल में दार्शनिक रचनाएँ प्रायः पद्यात्मक तथा इष्टदेव की गुणस्तुति रूप में रची जाती थीं। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' और 'विग्रहव्यावर्तनी', वसुबन्धु की 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' (विंशतिका व त्रिशत्का), दिग्नाग का 'प्रमाणसमुच्चय' आदि रचनाएँ इसी प्रकार की दार्शनिक हैं और पद्यात्मक शैली में रची गयी हैं। समन्तभद्र ने स्वयं अपनी (देवागम, स्वयम्भू स्तोत्र और युक्त्यनुशासन) तीनों दार्शनिक रचनाएँ कारिकात्मक और स्तुतिरूप में ही रची हैं।

प्रस्तुत देवागम में भावैकान्त-अभावैकान्त, द्वैतैकान्त-अद्वैतैकान्त, नित्यैकान्त-अनित्यैकान्त, अन्यतैकान्त-अनन्यतैकान्त, अपेक्षैकान्त-अनपेक्षैकान्त, हेत्वैकान्त-अहेत्वैकान्त, विज्ञानैकान्त-बहिरर्थैकान्त-दैवैकान्त-पौरुषेयैकान्त, पापैकान्त-पुण्यैकान्त, बन्धकारणैकान्त-मोक्षकारणैकान्त जैसे एकान्तवादों की समीक्षापूर्वक उन में सप्तमङ्गी (सप्त कोटियों) की योजना द्वारा स्याद्वाद (कथञ्चिद्वाद) की स्थापना की गयी है। स्याद्वाद की इतनी स्पष्ट और विस्तृत विवेचना इससे पूर्व जैन दर्शन के किसी ग्रन्थ में उपलब्ध

१. विद्यानन्द ने अष्टसहस्री (पृ. २९४) के अन्त में अकलङ्कदेव के समाप्ति-मङ्गल से पूर्व 'केचित्' शब्दों के साथ 'देवागम' के किसी व्याख्याकार की व्याख्या का 'जयति जगति' आदि समाप्ति-मंगल पद्य दिया है। और उसके बाद ही अकलङ्कदेव की अष्टशती का समाप्ति-मंगल निबद्ध किया है। इससे प्रतीत होता है कि अकलङ्क से पूर्व भी 'देवागम' पर किसी आचार्य की व्याख्या रही है, जो विद्यानन्द को प्राप्त थी या उसकी उन्हें जानकारी थी और उसी पर से उन्होंने ने उल्लिखित समाप्ति-मंगल पद्य दिया है। लघु समन्तभद्र (वि. सं. १३ वीं शती) ने आ. वादीमसिंह द्वारा 'आप्तमीमांसा' के उपलालन (व्याख्यान) किये जाने का उल्लेख अपने 'अष्टसहस्री-टिप्पण' (पृ. १) में किया है। उनके इस उल्लेख से किसी अन्य देवागम-व्याख्या के भी होने की सूचना मिलती है। पर वह भी आज अनुपलब्ध है। अकलङ्कदेव ने अष्टशती (का. ३३ की विवृति) में एक स्थान पर 'पाठा-न्तरमिदं बहुसंगृहीतं भवति' वाक्य का प्रयोग किया है, जो देवागम के पाठभेदों और उसकी अनेक व्याख्याओं का स्पष्ट संकेत करता है। 'देवागम' के महत्त्व, गाम्भीर्य और विश्रुति को देखते हुए कोई आश्चर्य नहीं कि उस पर विभिन्न कालों में अनेक टीका-टिप्पणादि लिखे गये हों।

२. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।

देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥—पार्श्वचरित

३. देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सदृशान्वितः।—विक्रान्तकौरव

४. विद्यानन्द ने अकलङ्क देव के 'स्वोक्तपरिच्छेदे' (अ. श. का. ११४) शब्दों का अर्थ "स्वनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति (शास्त्रं) तत्र" (अ. स., पृ. २९४) यह किया है। उससे विदित है कि देवागम में दश परिच्छेद स्वयं समन्तभद्रोक्त हैं।

नहीं होती। सम्भवतः इसीसे 'देवागम' स्याद्वाद की सहेतुक स्थापना करने वाला एक अपूर्व एवं प्रभावक ग्रन्थ माना जाता है और उसके सृष्टा आचार्य समन्तभद्र को 'स्याद्वादमार्गाग्रणी'<sup>१</sup> कहा जाता। व्याख्याकारों ने इस पर अपनी व्याख्याएँ लिखना गौरव समझा और अपने को भाग्यशाली माना है।

### व्याख्याएँ

इस पर आचार्यों ने अनेक व्याख्यायें लिखी हैं जैसा कि हम पहले उल्लेख कर आये हैं। पर आज उनमें तीन ही व्याख्याएँ उपलब्ध हैं और वे निम्नप्रकार हैं—

१ देवागमविवृति (अष्टशती), २ देवागमालङ्कार (अष्टसहस्री) और ३ देवागम-वृत्ति।

१. देवागम विवृति। इसके रचयिता आचार्य अकलङ्कदेव हैं। यह उपलब्ध व्याख्याओं में सबसे प्राचीन और अत्यन्त दुरूह व्याख्या है। परिच्छेदों के अन्त में जो समाप्ति-पुष्पिका वाक्य पाये जाते हैं उनमें इसका नाम 'आप्त मीमांसा-भाष्य' (देवागम-भाष्य) भी उपलब्ध होता है<sup>२</sup>। विद्यानन्द ने अष्टसहस्री के तृतीय परिच्छेद के आरम्भ में जो ग्रन्थ-प्रशंसा में पद्य दिया है उसमें उन्होंने इस का 'अष्टशती' नाम भी निर्दिष्ट किया है<sup>३</sup>। सम्भवतः आठसौ श्लोक प्रमाण रचना होने से इसे उन्होंने 'अष्टशती' कहा है। इस प्रकार यह व्याख्या देवागम-विवृति, आप्तमीमांसाभाष्य और अष्टशती इन तीन नामों से जैन वाङ्मय में विश्रुत है। इसका प्रायः प्रत्येक स्थल इतना जटिल एवं दुरवगाह है कि साधारण विद्वानों का उसमें प्रवेश संभव नहीं है। उसके मर्म एवं रहस्य को अवगत करने के लिये अष्टसहस्री का सहारा लेना अनिवार्य है। भारतीय दर्शन साहित्य में इस की जोड़ की रचना मिलना दुर्लभ है। न्यायमनीषी उदयन की न्याय-कुसुमाञ्जलि से इसकी कुछ तुलना की जा सकती है। अष्टसहस्री के अध्ययन में जिस प्रकार कष्टसहस्री का अनुभव होता है उसी प्रकार इस अष्टशती के एक-एक स्थल को समझने में भी कष्टशती का अनुभव उसके अभ्यासी को होता है।

२. देवागमालङ्कार। यह दूसरी व्याख्या ही इस निबन्ध का विषय है। इस पर हम आगे प्रकाश डाल रहे हैं।

१. 'षट्खण्डागम' में 'सिया पज्जन्ता सिया अपज्जन्ता' (धवला, पृ. १) जैसे स्थलों में स्याद्वाद का स्पष्टतया विधि और निषेध इन दो ही वचनप्रकारों से प्रतिपादन पाया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन दो में पाँच वचन प्रकार और मिलाकर सात वचनप्रकारों से वस्तु-निरूपण का निर्देश किया है। पर उसका विवरण एवं विस्तृत विवेचन नहीं किया (पंचास्ति० गा० १४)।

२. विद्यानन्द, अष्टसहस्री, पृ. २९५।

३. 'इत्याप्तमीमांसाभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥छा॥१०॥'

४. अष्टशतीप्रथितार्था साष्टसहस्रीकृतापि संक्षेपात्।

विलसदकलङ्कधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥ — अष्ट स. पृ. १७८।

३. देवागम-वृत्ति । यह लघु परिणाम की व्याख्या है । इसके कर्ता आचार्य वसुनन्दि हैं । यह न अष्टशती की तरह दुरवगम्य है और न अष्टसहस्री के समान विस्तृत एवं गम्भीर है । कारिकाओं का व्याख्यान भी लम्बा नहीं है और न दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह है । मात्र कारिकाओं और उनके पद-वाक्यों का अर्थ तथा कहीं-कहीं फलितार्थ अतिसंक्षेप में प्रस्तुत किया गया है । पर हाँ, कारिकाओं के हार्द को समझने में यह वृत्ति देवागम के प्राथमिक अभ्यासियों के लिये अत्यन्त उपकारक एवं विशेष उपयोगी है । वृत्तिकार ने अपनी इस वृत्ति के अन्त में लिखा है कि 'मैं मन्दबुद्धि और विस्मरणशील व्यक्ति हूँ । मैंने अपने उपकारके लिये ही 'देवागम' कृति का यह संक्षेप में विवरण किया है ।' उनके इस स्पष्ट आत्मनिवेदन से इस वृत्ति की लघुरूपता और उसका प्रयोजन अवगत हो जाता है ।

यहाँ उल्लेखनीय है कि वसुनन्दि के समक्ष देवागम की ११४ कारिकाओं पर ही अष्टशती और अष्टसहस्री उपलब्ध होते हुए तथा 'जयति जगति' आदि श्लोक को विद्यानन्द के निर्देशानुसार किसी पूर्ववर्ती आचार्य की देवागम व्याख्या का समाप्ति-मंगलपद्य जानते हुए भी उन्होंने उसे देवागम की ११५ वीं कारिका किस आधार पर माना और उसका भी विवरण किया ? यह चिन्तनीय है । हमारा विचार है कि प्राचीन काल में साधुओं में देवागम का पाठ करने तथा उसे कण्ठस्थ रखने की परम्परा रही है । जैसा कि पात्रकेशरी ( पात्रस्वामी ) की कथा में निर्दिष्ट चारित्रभूषण मुनि को उसके कण्ठस्थ होने और अहिच्छेत्र के श्रीपार्श्वनाथ मन्दिर में रोज पाठ करने का उल्लेख है । वसुनन्दि ने देवागम की ऐसी प्रति पर से उसे कण्ठस्थ कर रखा होगा, जिस में ११४ कारिकाओं के साथ उक्त अज्ञात देवागम व्याख्या का समाप्ति मङ्गल पद्य भी किसी के द्वारा सम्मिलित कर दिया गया होगा और उस पर ११५ का संख्याङ्क डाल दिया होगा । वसुनन्दि ने अष्टशती और अष्टसहस्री टीकाओं पर से जानकारी एवं खोजबीन किये बिना देवागमका अर्थ हृदयङ्गम रखने के लिये यह देवागम वृत्ति लिखी होगी और उसमें कण्ठस्थ सभी ११५ कारिकाओं का विवरण लिखा होगा । और इस तरह ११५ कारिकाओं की वृत्ति प्रचलित हो गयी जान पड़ती है ।

यह वृत्ति एक बार सन् १९१४, वी. नि. सं. २४४० में भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, काशी से सनातन जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत ग्रन्थाङ्क ७ के रूप में तथा दूसरी बार निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है । पर अब वह अलभ्य है । इसका पुनः अच्छे संस्करण के रूप में मुद्रण अपेक्षित है ।

### देवागमालङ्कार : अष्टसहस्री

अब हम अपने मूल विषय पर आते हैं । पीछे हम यह निर्देश कर आये हैं कि आचार्य विद्यानन्द की 'अष्टसहस्री' देवागम की दूसरी उपलब्ध व्याख्या है । देवागम का अलङ्कारण ( व्याख्यान ) होने से

१. 'श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य.....देवागमाख्यायाः कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतविस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय ।'—

देवागमवृत्ति, पृ. ५०, स० जैन ग्रन्थमाला, काशी ।

यह देवागमालङ्कार या देवागमालङ्कृति तथा आप्त-मीमांसाङ्कार या आप्तमीमांसाङ्कृति नामों से भी उल्लिखित है<sup>१</sup> और ये दोनों नाम अन्वर्थ हैं। 'अष्टसहस्री' नाम भी आठ हजार श्लोक प्रमाण होने से सार्थक है। पर इसकी जिस नाम से विद्वानों में अधिक विश्रुति है और जानी-पहचानी जाती है वह नाम 'अष्टसहस्री' ही है। उपर्युक्त दोनों नामों की तरह 'अष्टसहस्री' नाम भी स्वयं विद्यानन्द प्रदत्त है<sup>२</sup>। मुद्रित प्रति के<sup>३</sup> अनुसार उसके दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें और दशवें परिच्छेदों के आरम्भ में तथा दशवें के अन्त में जो अपनी व्याख्या-प्रशंसा में एक-एक पद्य विद्यानन्द ने दिये हैं उन सब में 'अष्टसहस्री' नाम उपलब्ध है। नवमें परिच्छेद के आदि में जो प्रशंसा-पद्य है उसमें भी 'अष्टसहस्री' नाम अध्याहृत है,<sup>४</sup> क्योंकि वहाँ 'सम्पादयति' क्रिया तो है, पर उसका कर्ता कण्ठतः उक्त नहीं है, जो 'अष्टसहस्री' के सिवाय अन्य सम्भव नहीं है।

### रचनाशैली और विषय-विवेचन

इसकी रचना-शैली बड़ी गम्भीर और प्रसन्न है। भाषा परिमार्जित और संयत है। व्याख्येय के अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये जितनी पदावली की आवश्यकता है उतनी ही पदावली को प्रयुक्त किया है। वाचक जब इसे पढ़ता है तो एक अविच्छिन्न और अविरल गति से प्रवाहपूर्ण धारा उसे उपलब्ध होती है, जिसमें वह अवगाहन कर आनन्द-विभोर हो उठता है। समन्तभद्र और अकलंक के एक-एक पद का मर्म तो स्पष्ट होता ही जाता है उसे कितना ही नव्य, भव्य और सम्बद्ध चिन्तन भी मिलता है। विद्यानन्द ने इसमें देवागम की कारिकाओं और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादिका विस्तार पूर्वक अर्थोद्घाटन किया है। साथ में अकलंकदेव की उपर्युक्त 'अष्टशती' के प्रत्येक स्थल और पदवाक्यादि का भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। 'अष्टशती' को 'अष्टसहस्री' में इस तरह आत्मसात् कर लिया गया है कि यदि दोनों को भेद-सूचक पृथक्-पृथक् टाइपों (शीषाक्षरों) में न रखा जाये और अष्टशती का टाइप बड़ा न किया जाये तो पाठक को यह भेद करना दुस्साध्य है कि यह 'अष्टशती' का अंश है और यह 'अष्टसहस्री' का। विद्यानन्द ने 'अष्टशती' के आगे, पीछे और मध्य की आवश्यक एवं प्रकृतोपयोगी सान्दर्भिक वाक्य रचना करके 'अष्टशती' को 'अष्टसहस्री' में मणि-प्रवल-न्याय से अनुस्यूत किया है और अपनी तलस्पर्शिनी अद्भुत प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। वस्तुतः यदि विद्यानन्द यह 'अष्टसहस्री' न लिखते 'तो अष्टशती' का गूढ़ रहस्य उसी में ही छिपा रहता और मेधावियों के लिये वह रहस्यपूर्ण बनी रहती। इसकी रचना

१. आप्तपरीक्षा, पृ. २३३, २६२; अष्टस. पृ. १, मङ्गलपद्य तथा परिच्छेदान्त में पाये जाने वाले समाप्ती-पुष्पिका वाक्य।
२. 'जीयादष्टसहस्री. . . .' (अष्ट स., पृ. २१३), 'साष्टसहस्री सदा जयतु।' (अष्ट स. २३१)
३. १४५४ वि. सं. की लिखी पाठन-प्रति में ये प्रशंसा पद्य परिच्छेदों के अन्त में हैं।
४. सम्यगवबोधपूर्व पौरुषमपसारिताखिलानर्थम्।  
दैवोपेतमभीष्टं सर्वं सम्पादयत्याद्यु— अष्ट. स., पृ. २५९।

शैली को विद्यानन्द ने स्वयं 'जीयादष्टसहस्री.....प्रसन्न-गंभीर-पदपदवी' (अष्ट स., पृ. २१३) शब्दों द्वारा प्रसन्न और गंभीर पदावली युक्त बतलाया है।

इसमें व्याख्येय देवागम और 'अष्टशती' प्रतिपाद्य विषयों का विषदतया विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त विद्यानन्द के काल तक विकसित दार्शनिक प्रमेयों और अपूर्व चर्चाओं को भी इसमें समाहित किया है। उदाहरणार्थ नियोग, भावना और विधिवाक्यार्थ की चर्चा,<sup>१</sup> जिसे प्रभाकर और कुमारिल मीमांसक विद्वानों तथा मण्डनमिश्र आदि वेदान्त दार्शनिकों ने जन्म दिया है और जिसकी बौद्ध मनीषी प्रज्ञाकर ने सामान्य आलोचना की है, जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम विद्यानन्द ने ही इसमें प्रस्तुत की एवं विस्तृत विशेष समीक्षा की है।—इसी तरह विरोध,<sup>२</sup> वैयधिकरण्य आदि आठ दोषों की अनेकान्त वाद में उद्भावना और उसका समाधान दोनों हमें सर्वप्रथम इस अष्टसहस्री में ही उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार 'अष्ट सहस्री' में विद्यानन्द ने कितना ही नया चिन्तन और विषय विवेचन समाविष्ट किया है।

### महत्त्व एवं गरिमा

इसका सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन करने पर अध्येता को यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कृति अतीव महत्त्वपूर्व और गरिमामय है। विद्यानन्द ने इस व्याख्या के महत्त्व की उद्घोषणा करते हुए लिखा है—

श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यायैः ।  
विज्ञायते यथैव स्वसमय-परसमय-सद्भावः ॥<sup>३</sup>

'हजार शास्त्रों का पढ़ना-सुनना एक तरफ है और एक मात्र इस कृति का अध्ययन एक ओर है, क्यों कि इस एक के अभ्यास से ही स्वसमय और परसमय दोनों का विज्ञान हो जाता है।'

व्याख्याकार की यह घोषणा न मदोक्ति है और न अतिशयोक्ति। 'अष्टसहस्री' स्वयं इसकी निर्णायिका है। और 'हाथ कंगन को आरसी क्या' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करती है। हमने इस का गुरुमुख से अध्ययन करने के उपरान्त अनेकवार इसे पढ़ा और पढ़ाया है। इसमें वस्तुतः वही पाया जो विद्यानन्द ने उक्त पद्य में व्यक्त किया है।

१ भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा ।

तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्टप्रभाकरौ ॥

कार्येऽर्थेचोदना ज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा ।

द्वयोच्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ ॥ (अष्ट स., पृ. ५-३५.)

२ 'इति किं नश्चिन्तया, विरोधादि दूषणस्यापि तथैवापसारितत्वात् ।...ततो न वैयधिकरण्यम् । एतेनोभय-  
दोष प्रसङ्गोऽभ्यपास्तः;...एतेन संशयप्रसङ्गः प्रत्युक्तः; ..... तत एव न संकरप्रसङ्गः, एतेन व्यतिकर-  
प्रसङ्गो व्युदस्तः...तत एव नानवस्था...।'—अष्टस., पृ. २०४-२०७।

३ अष्टस., पृ. १५७।

दो स्थलों पर इस का जयकार करते हुए विद्यानन्द ने जो पद्य दिये हैं उनसे भी 'अष्टसहस्री' की गरिमा स्पष्ट प्रकट होती है। वे पद्य इस प्रकार हैं—

(क) जीयादष्टसहस्री देवागमसंगतार्थमकलङ्कम् ।

गमयन्ती सन्नयतः प्रसन्न-गम्भीर पदपदवी ॥<sup>१</sup>

(ख) स्फुटमकलङ्कपदं या प्रकटयति परिष्टचेतसामसमम् ।

दर्शित-समन्तभद्रं साष्टसहस्री सदा जयतु ॥<sup>२</sup>

प्रथम पद्य में कहा गया है कि प्रसन्न और गम्भीर पदों की पदवी (उच्च स्थान अथवा शैली) को प्राप्त यह 'अष्टसहस्री' जयवन्त रहे—चिरकाल तक मनीषी गण इसका अध्ययन-मनन करें, जिसकी विशेषता यह है कि वह देवागम में सम्यक् रीत्या प्रतिपादित और अकलङ्क समर्थित अर्थ को सन्नयों (सप्तभङ्गों) से अवगत कराती है।

दूसरे पद्य में प्रतिपादित है कि जो पटु बुद्धियों—प्रतिभाशालियों के लिये अकलङ्कदेव के विषम—दुरूह पदों का, जिनमें स्वामी समन्तभद्र का हार्द (अभिप्राय) प्रदर्शित है, अर्थोद्घाटन स्पष्टतया करती है वह अष्टसहस्री सदा विजयी रहे।

परिच्छेदों के अन्त में पाये जाने वाले पद्यों में विद्यानन्द ने उस परिच्छेद में प्रतिपादित विषय का जो निचोड़ दिया है उससे भी व्याख्या की गरिमा का आभास मिल जाता है। एकान्त वादों की समीक्षा और पूर्वपक्षियों की आशंकाओं का समाधान इसमें जिस शालीनता एवं गम्भीरता से प्रस्तुत किया है वह अद्वितीय है। प्रायः उत्तरदाता आशंकाओं का उत्तर देते समय सन्तुलन खो देता है और पूर्वपक्षी को 'पशु', 'जड', 'अश्लील' जैसे मानसिक चोट पहुँचाने वाले अप्रिय शब्दों का प्रयोग भी कर जाता है। जैसा कि दर्शन-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पर 'अष्टसहस्री' में आरम्भ से अन्त तक शालीनता दृष्टिगोचर होती है और कहीं भी असन्तुलन नहीं मिलता। और न उक्त प्रकार के कठोर शब्द। एक स्थल पर सर्व पदार्थों को 'मायोपम', 'स्वप्नोपम' मानने वाले सौगत को अकलङ्कदेव की तरह मात्र 'प्रमादी' और 'प्रज्ञापराधी' कहा है।<sup>३</sup> इन दोनों शब्दों के प्रयोग में कितनी सौम्यता, सन्तुलन और सद्भावना निहित है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। इन सब बातों से 'अष्टसहस्री' की गरिमा निश्चय ही विदित हो जाती है।

इस पर लघु समन्तभद्र (१३ वीं शती) का एक 'अष्टसहस्री'-विषम-पद-तात्पर्य टीका नामक टिप्पण और दूसरी श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७ वीं शती) की 'अष्टसहस्री-तात्पर्य विवरण' संज्ञक

१ वही, पृ. २१३।

२ वही, पृ. २३१।

३ अष्टस., पृ. ११६।



व्याख्या उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। इसका प्रकाशन सन् १९१५ वी. नि. सं. २४४१ में आकलूज निवासी सेठ श्री नाथारंगजी गांधी द्वारा एक बार हुआ था। अब वह संस्करण अप्राप्य है। दूसरा नया संस्करण आधुनिक सम्पादनादि के साथ प्रकाशनाई है।

### इसके रचयिता

हम आरम्भ में ही निर्देश कर आये हैं कि इस महनीय कृति की रचना जिस महान् आचार्य ने की वे तार्किक शिरोमणि विद्यानन्द हैं। ये भारतीय दर्शन विशेषतः जैन दर्शनाकाश के दैदीप्यमान सूर्य हैं, जिन्हें सभी भारतीय दर्शनों का तलस्पर्शी अनुगम था, यह उनके उपलब्ध ग्रन्थों से स्पष्ट अवगत होता है। इनका अस्तित्व समय हमने ई. ७७५ से ८४० ई. निर्धारित किया है।<sup>१</sup> इनके और इनकी कृतियों के सम्बन्ध में विशेष विचार अन्यत्र किया गया है।<sup>२</sup>

१. आप्त प., प्रस्ता., पृ. ५३, वीर सेवामन्दिर, दरियागंज, दिल्ली-६।

२. वही, प्रस्ता०, पृ. ९-५४।